फरवरी १९९८ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

[आत्म-कथन]

भाभीमां का ऊर्ध्व गमन

तब मेरी उम्र केवलदस वर्ष की थी जब बड़े भाई श्री बालकृष्ण (जिन्हें मैं बचपन से ही 'प्हाऊ' कहता आया हूं।) का विवाह रंगून निवासी सद्गृहस्थ की भाग्यशालिनी कन्या रमादेवी से हुआ। प्हाऊ हमारी पीढ़ी के प्रथम पुरुष हैं अतः इस पीढ़ी के ज्येष्ठ पुरुष हैं, अग्र पुरुष हैं। प्हाऊ की जीवन-संगिनी भाभीमां रमादेवी ६३ वर्षों तक उनकी सहधर्मिणी रही। परिवार की इस पीढ़ी की प्रथम कुल-वधू बन कर आयी और शीघ्र ही सद्गृहणी की सभी जिम्मेदारियों को दक्षतापूर्वक निभाने लगी।

उम्र बढ़ती गयी। परिवार बढ़ता गया। परिवार के प्रति स्नेह बढ़ता गया। स्नेहजन्य उत्तरदायित्व बढ़ता गया। बृहद्परिवार की ज्येष्ठा-श्रेष्ठा होने के कारण कुल-माता के अग्र दायित्व को सहजतापूर्वक संभाला।

जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आये। अनेक खट्टे-मीठे अनुभवों में से गुजरना पड़ा। पर सारी परिस्थितियों का धर्म-धैर्यपूर्वक सामना किया। कुल-पिता प्हाऊ की धर्मसंगिनी परिवार की बुजुर्ग कुल-माता के रूप में सब पर अपना स्नेहामृत उडेलती रही। केवल आत्मजों के प्रति ही नहीं, बृहद्परिवार के सभी सदस्यों के प्रति ही नहीं, बल्कि समाज के परिचित, अपरिचित अनेक परिवारों के सुख-दुख में तादात्म्यभाव रखती हुई उन्हें हर प्रकार का सहयोग और सहायता देती रही। समाज के अभावग्रस्त लोगों के लिए अन्न-वस्त्र आदि का मुक्तहस्त से दान देते रहना उस करुणामयी का सहज स्वभाव बन गया था। विपश्यना साधना के अतिरिक्त उसका अधिकतर समय सेवा में ही बीतता था।

विपश्यना की धर्मधारा में उसके प्रवेश का अपना एक महत्वपूर्ण इतिहास है। प्हाऊ बालकृष्ण १९६२ में किसी कार्यवश कुछ दिनों के लिए यांगों (रंगून) आया था। यांगों के विपश्यना केंद्र में पूज्य सयाजी ऊ बा खिन के चरणों में बैठ कर उसने दस दिनों का शिविर संपन्न किया। पूर्व संचित पारमिताओं के कारण उसे पहला शिविर ही बहुत रास आया। सातवां दिन आरंभ होते-होते सारे शरीर की सघनता पिघल गयी। कहीं कोई ठोस घनीभूत संवेदना नहीं रही। सर्वत्र उर्मियां ही उर्मियां। ठोस मृण्मय शरीर संपूर्णतया चिन्मय हो उठा। सतत तरंगित नन्हें-नन्हें वायव्य परमाणुओं का यह पुंजीभूत प्रवाह यद्यपि इंद्रियातीत परमसत्यरूपी अमृत की ओर ले जाने वाली विपश्यना की लंबी यात्रा पर प्रगति की प्रारंभिक अवस्थाओं का महज एक महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर है तथापि किसी भी नये विपश्यी साधक के लिए ऐसा अनुभव दुर्लभ व अभूतपूर्व होने के कारण विपश्यना के प्रति सहज आकर्षण और आस्था उत्पन्न करता है।

सारे शरीर में पुलक-रोमांच का आकस्मिक अनुभव भक्तिमार्ग में भी यदा-कदा हो जाता है। विपश्यना में आने के पहले स्वयं भक्तिमार्ग में आकंठ डूबा होने के कारण मैं स्वयं इस अनुभूति से परिचित था। परंतु भक्ति-भावावेश में हुए उस सतही पुलक-रोमांच की अनुभूति से विपश्यना साधना की भंग अवस्था में सतत तरंगित अनित्यबोधिनी अनुभूति की कोई तुलना नहीं। प्हाऊ भी पहले सगुण साकार भक्ति-भावावेश का पथिक था। उसे भी भक्तिपथ के पुलक-रोमांच की अनुभूति हुई ही थी। परंतु अब इस अत्यंत सूक्ष्म भंग अवस्था में भवंग पर ध्यान करते हुए जिस आंतरिक हल्केपन का अनुभव हुआ उससे ऐसा लगा मानो कोई अनमोल रत्न मिल गया हो।

विपश्यना सीखते हुए जब भीतर की सच्चाई पर पड़ा हुआ अज्ञान का पर्दा फटता है और शरीर तथा चित्त के मिले-जुले प्रपंच की प्रथम अनुभूति आरंभ होती है तभी धर्म अपना **एहिपस्सिको** स्वभाव प्रकट करने लगता है। साधना करते हुए साधक के मन में बार-बार यह भाव जागने लगता है कि ऐसी अनमोल विद्या मेरे स्वजनों को भी मिले। परंतु जिसे पहले शिविर में ही भंग अवस्था प्राप्त हो जाय उसका तो कहना ही क्या! प्हाऊ की भी यही दशा हुई। सातवें दिन जब भंग अवस्था प्राप्त हुई तब सारे शरीर में बाहर-भीतर सर्वत्र अनित्य की अनुभूति का बार-बार फेंटा लगाते हुए **एहिपस्सिको** यानी 'आओ और देखो' का भाव प्रबल रूप से जाग उठा।

मैं उन दिनों पूज्य गुरुदेव के सहायक के रूप में धर्मसेवा दिया करता था। प्हाऊ के निवास-कक्ष से सटा हुआ मेरा निवास था। सातवें दिन पगोडा के नीचे बने शून्यागार में एक घंटे का अधिष्ठान पूरा करके ऊपर आया तो वह सीधे मेरे कक्ष में आ गया और कहने लगा कि चलो पूज्य गुरुजी के पास चलें। मुझे उनसे एक विशेष निवेदन करना है। मैंने पूछा, साधना में कोई कठिनाई है? तो कहने लगा कि इतनी सरल साधना में भला क्या कठिनाई होगी! मुझे गुरुजी से प्रार्थना करनी है कि वे भारत चलें ताकि तुम्हारी दुखियारी भाभी के साथ सारे परिवार को यह कल्याणी साधना मिल जाय। सब का कितना भला होगा।

मैंने उसे पूज्य गुरुजी के आदेश समझाए कि ऐसी बातें शिविर के अंत में भले करे, अब नहीं। इस समय तुम्हें अपना सारा ध्यान अंतरतप में लगाये रखना चाहिए। अगले तीन दिनों में उसने यही प्रश्न कई बार उठाया और मैं बार-बार उसे शिविर-समापन तक के लिए टालता रहा। वैसे मैंने स्वयं गुरुजी तक उसका निवेदन पहुँचाया तो वे न जाने क्यों बहुत जोर से हँसे।

शिविर-समापन के दिन प्हाऊ मुझसे कहने लगा कि तुम जानते हो तुम्हारी भाभी कितनी बेचैन रहती है। उसे यह अनमोल विद्या मिल जायगी तो वह कितनी सुखी हो जायगी और तुम्हारे भतीजों के लिए भी यह विद्या कितनी कल्याणकारिणी साबित होगी। कुछ वर्षों पूर्व जब किसी विवाह के अवसर पर वे बरमा आए तब उन्होंने शिविर में २-४ दिन बिताये थे। परंतु उस प्रारंभिक

अधूरे अनुभव से कोई इस गंभीर विद्या को क्या समझे भला! गुरुजी को मेरी ओर से इस बात का दबाव दो कि वे भारत आने की स्वीकृति दे दें। वहां शिविर लगाने का सारा प्रबंध हो जायगा।

मैं प्हाऊ की मानसिकता खूब समझता था। सत्यानुभूति का स्वयं आस्वादन कर लेने पर किसी भी पति का अपनी प्रिय सहधर्मिणी के प्रति, किसी भी पिता का अपनी प्रिय संतान के प्रति, तथा अन्य स्वजनों, परिजनों के प्रति ऐसा धर्मसंवेग जागना स्वाभाविक है। मैं स्वयं भी चाहता था कि पूज्य गुरुदेव किसी प्रकार भारत जा सकें तो परिवार के भारतवासी सदस्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक लोग भगवती विपश्यना से भवमुक्ति के मार्ग का वरदान पा सकेंगे और इस प्रकार अनेकों का कल्याण होगा। अतः हम दोनों पूज्य गुरुदेव से मिले और उनके सामने भैया का प्रस्ताव रखा। वे खूब जोरों से हँसे। फिर कुछ देर मौन रहने के पश्चात फिर कहा कि मैं तो स्वयं भारत जाकर उसका ऋण चुकाना चाहता हूं। भारत सदियों से अपनी यह अनमोल संपदा खो बैठा है। उसे यह वापस मिलनी ही चाहिए। इससे अनेकों का कल्याण होगा। उन्होंने प्हाऊ से कहा कि इस धर्मचारिका में तुम्हें मेरे साथ रह सकोगे? प्हाऊ ने सहर्ष स्वीकार किया।

एक-दो दिन बाद प्हाऊ वापस चला गया। एक दिन किसी चर्चा में गुरुदेव ने कहा कि तुम्हारा भाई बालकृष्ण पुण्यशाली है इसीलिए पहले ही शिविर में उसे इतनी गहरी उपलब्धि हुई। उसके मन में अपने परिवार को धर्मरस चखाने की कामना जागनी स्वाभाविक है। परंतु मुझे उसकी धर्मकामना के पथ पर अंतराय दिखते हैं। वह भारत लौटते ही अनजाने में विपश्यना-विपरीत शक्तियों का शिकार हो जायगा।

और यही हुआ। घर लौटने पर वह विपश्यना से सर्वथा विपरीत एक ध्यान-पद्धति में दीक्षित हो गया और परिणामतः विपश्यना विद्या से बहुत दूर चला गया। परिवार के बर्मावासी विपश्यी सदस्य इस स्थिति को असहाय होकर देखते रह गये। वे कर भी क्या सकते थे?

जून १९६९ में परमपूज्य गुरुदेव के प्रतिनिधि के रूप में दो हजार वर्षों से विलुप्त हुई विपश्यना साधना का अनमोल रत्न लेकर मैं भारत आया। परिवार के बर्मा निवासी भारतीय सदस्यों और बर्मा से आए हुए मित्रों के उत्साहजनक सक्रिय सहयोग से पहला शिविर मुंबई की पंचायतीवाडी धर्मशाला में जैसे-तैसे निर्विघ्न संपन्न हुआ। यद्यपि परिवार के भारत निवासी सदस्यों का विरोध नहीं था परंतु प्रत्यक्ष सहयोग भी नहीं था। उनमें से किसी एक ने भी शिविर में भाग नहीं लिया। मन ही मन **कालं आगमेय्य** की प्रतीक्षाभरी मुस्कान लिए हुए मैं दूसरा शिविर लगाने के लिए मद्रास रवाना हुआ।

बर्मा से आए हुए परिवार के सदस्य इस शिविर के आयोजन में प्रमुखरूप से लग गये। इस शिविर में भी परिवार का कोई भारतीय सदस्य सम्मिलित नहीं हो रहा था। वात्सल्यमयी भाभीमां को यह अच्छा नहीं लगा। उसका चेहरा उदास था। चाहती थी कि कम से कम एक व्यक्ति तो इस शिविर में सम्मिलित हो। पर वह कर भी क्या सकती थी। उसे चिंता थी कि एक भाई बर्मा से ऐसी विद्या अपने साथ लेकर आया है जिसे सीख कर सभी शिविरार्थी लाभान्वित हुए हैं। सभी इसकी प्रशंसा करते हैं। पर अपने परिवार का एक भी व्यक्ति इसे आजमा कर देखना तक नहीं चाहता। कम से कम एक व्यक्ति तो शिविर में बैठ जाय। शिविर के बाद ठीक न लगे तो उसे भले छोड़ दे, पर एक बार आजमा कर तो देखे।

मैं उसके मन की छटपटाहट महसूस कर रहा था परंतु वह भी लाचार थी, मैं भी लाचार था। वह कभी इस स्वजन को समझाती, कभी उस परिजन को। परंतु कोई टस से मस नहीं हो रहा था। मैं उसके चेहरे की उदासी देख रहा था और हृदय की तड़पन महसूस कर रहा था और साथ-साथ देख रहा था विरोधी अदृश्य शक्तियों का बलप्रदर्शन।

भारत में होने वाले इस दूसरे शिविर का प्रबंध प्हाऊ ने मद्रास के साहूकारपेट के अग्रवाल भवन में करवा दिया था। २४ जुलाई १९६९ को शिविर आरंभ होना निश्चित था। बर्मा से आए परिवार के कुछ एक सदस्यों के अतिरिक्त कुल मिला कर १८ साधक साधिकाओं की बुकिंग हो गयी थी। परंतु भारतीय परिवार में सन्नाटा छाया हुआ था। भाभी के चेहरे की उदासी और गहरा रही थी। शिविर-स्थल पर चलने का समय आया। मैं कार में बैठ रहा था कि भाभी की आवाज आयी – ठहरो, मैं भी चल रही हूं। मैं अवाक रह गया। यह ममतामयी मां का वात्सल्य बोल रहा था। 'मेरा अमुक-अमुक सामान धर्मशाला पहुँचा देना', ऐसा आदेश देकर वह कार में आ बैठी।

भाभी शिविर में दृढ़चित्त से सम्मिलित हुई। साधना के दौरान उसे अनेक कष्ट-कठिनाइयों में से गुजरना पड़ा। लेकिन वह विचलित नहीं हुई। गंभीरतापूर्वक साधना में लगी रही। उसका परिश्रम सफल हुआ। यों भारत में विपश्यना के पुनर्जागरण की चिरस्मरणीय यात्रा का दूसरा शिविर ३ अगस्त को सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। इस ऐतिहासिक शिविर से संबंधित जो दो-तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं उनमें भाभीमां का शिविर में शामिल होना भी एक है।

शिविर के बाद वह पथ पर लड़खड़ाते हुए आगे बढ़ती रही। विपश्यना साधना में उसका साथ देने वाला परिवार में कोई नहीं था लेकिन फिर भी समय-समय पर शिविर में भाग लेते हुए और जैसे-तैसे घर में अभ्यास करते हुए वह साधना में लगी रही। भले साथ नहीं दिया परंतु परिवार में किसी ने उसका विरोध भी नहीं किया। क्योंकि विपश्यना से उसे जो लाभ मिल रहा था वह प्रत्यक्ष था।

फिर भी वह चाहती रही कि उसके आत्मज इससे लाभान्वित हों। जब कभी इस बात को लेकर दुःख प्रकट करती तो मैं उसे यही कह कर समझाता रहा कि सारा परिवार पुण्यशाली है। समय पकने पर इस मुक्ति के पथ की ओर स्वतः खिंचा चला आयेगा।

उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था जब कि एक दिन यकायक प्हाऊ ने कहा कि वह विपश्यना के शिविर में फिर एक बार बैठना चाहता है। प्हाऊ इस बार विपश्यना के शिविर में आया तो सदा के लिए विपश्यना का ही होकर रह गया। अनुभूतियों के

आधार पर उसे इस साधना की महानता और अधिक स्पष्ट हुई। नित्य नियमित ध्यान के अतिरिक्त शिविर पर शिविर लेता रहा। सामान्य दस दिवसीय शिविर ही नहीं, बल्कि सतिपट्ठान, विशिष्ट शिविर और ३० दिन के दीर्घ शिविर तथा आचार्य स्वयं शिविर भी उसने अनेक किये।साधना की तलस्पर्शी गहराइयों का और अधिक अनुभव हुआ। बहुत-सी व्यावसायिक जिम्मेदारियों से मुक्त होकर वह धर्मसेवा में लग गया। कुछ एक वर्षों में ही सहायक और फिर वरिष्ठ सहायक आचार्य, उपाचार्य और पूर्ण आचार्य का दायित्व निभाने लगा। अपनी रुग्ण अवस्था के कारण इस धर्मसेवा में भाभी उसका साथ न दे सकी फिर भी नित्य नियमित साधना करती रही, शिविरों में सम्मिलित होती रही।

उसी का यह परिणाम हुआ कि असह्य शारीरिक पीड़ाओं में से गुजरते हुए भी उसने शांत चित्त से मंगल मृत्यु का वरण किया।७ सितंबर, १९९७ को उसे ब्रेन हैमरेज हुआ। मद्रास की प्रसिद्ध अस्पताल की आई. सी. यू. में उसे भर्ती कराया गया। लगभग एक महीने तक इस दुर्वह रोग का सामना करती रही। कई दिनों तक बोल नहीं पायी। ऊपर-ऊपर से बहुधा यह लगता कि वह सर्वथा संज्ञाशून्य हो गयी है। पर अंतरचेतना बनी रही। प्रातःकाल टेलीफोन पर मंगल मैत्री मिलते ही बाह्य स्तर पर भी चेतना प्रकट हो जाती। मैत्री पूरी होने पर मुँह से 'साधु, साधु, साधु' नहीं कह पाती थी पर दोनों हाथ जोड़ने का प्रयत्न करती और स्वीकृतिसूचक सिर हिलाती। अस्पताल वालों की अनुमति से उसे इयरफोन दिये गये जिस पर वह धर्म के दोहे सुनती रहती, जिसकी प्रसन्नता उसके चेहरे पर स्पष्ट प्रकट होती। सारा परिवार अपनी ममतामयी मां की सेवा में लगा रहा। दो पुत्र, एक पुत्र-वधू और एक पुत्री तो चौबीसों घंटे अस्पताल में ही सेवारत रहे। अन्य सभी भिन्न-भिन्न प्रकार से सेवा में संलग्न थे। पर सब से अधिक सहारा उसे विपश्यना का था।

जिस दिन महाप्रयाण हुआ उस दिन प्रातःकाल से ही वह बहुत अधिक बेचैन थी। उसकी छटपटाहट स्पष्ट दीख रही थी। नित्य की भांति उसे फोन पर मैत्री दी, जिसे उसने सहर्ष स्वीकार किया। उसे सांस और संवेदना देखते हुए होठ पर ध्यान रखने के लिए कहा।जो वहां उपस्थित थे उन्होंने बताया कि उसने तीन बार सिर हिला कर मैत्री स्वीकार की।इसके पश्चात शांत हो कर साधना में ही लीन हो गयी। दिन भर प्हाऊ उसके साथ बैठ कर ध्यान में साथ देता रहा। मृत्यु के कुछ क्षण पूर्व उसने ६३ वर्ष तक गृहस्थजीवन की भागीदारिणी धर्मसंगिणी के सिर पर हाथ रख कर उसे मंगल मैत्री दी, जिसे सहर्ष स्वीकार करते हुए उसने शांत चित्त से अंतिम सांस छोड़ा और इहलीला समाप्त की।

मृत्यु के पश्चात भी उस पुण्यशालिनी के चेहरे पर जिस शांति और कांति की दिव्य आभा प्रभासित हो रही थी वह उस विपश्यना साधिका की मंगल मृत्यु के अनुरूप ही थी और साथ-साथ उसके दिव्यलोक की ओर ऊर्ध्वगमन की प्रतीक भी।

सचमुच भाभीमां विपश्यना पाकर धन्य हुई! परिवार इस धर्ममयी माता का सान्निध्य पाकर धन्य हुआ! जीवन मंगलमय हुआ! मृत्यु मंगलमय हुई!

मंगल मित्र,

सत्यनारायण गोयन्का.